शोध मंथन Vol. XVI No.I Jan.- Mar. 2025 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.877 (SJIF)

साहित्य की कल्पनाशीलता में कृषिजन्य समस्याओं का चित्रण

प्राप्तिः 10.03.2025
स्वीकृतः 20.03.2025

14

डॉ0 हलधर महतो
सहायक प्राध्यापक (ओड़िया विभाग)
डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय
राँची, झारखण्ड
ईमेलः haladhar08@gmail.com

डॉ0 सत्यजीत प्रधान
पूर्व शोध छात्र
राँची, विश्वविद्यालय
राँची, झारखण्ड

सारांश

भारतीय साहित्य में अनेक कालजयी रचनाओं तथा नायकत्व का अभ्युदय कविता, कहानी अथवा उपन्यास के पटल पर हुआ है। इसी के संदर्भ में भारतीय साहित्य और इतिहास के अनुसार आदिवासी किसानों और अन्य किसानों के आंदोलनों–विद्रोहों के बीच सबसे बड़ी समानता यह है कि दोनों के ही शोशक समानधर्मा लोग हैं, जिनके खिलाफ इन्होंने आंदोलन किया। साहित्य में दो चीजें होती हैं, एक विषय और दूसरा वस्तु। किसान एक विषय है और जब लेखक इस पर लिखेगा तो वस्तु बनेगी। किसान की पहचान और उसकी प्रस्तुति में किसी रचनाकार का अपना नजरिया प्रस्तुत होगा। यदि रचनाकार एलीट होगा तो किसान को बड़ी हिकारत की दृष्टि से देखेगा। यदि रचनाकार स्वयं किसान घर से आया है तो वह किसान को प्रेमपूर्वक देखेगा। अगर रचनाकार की सहानुभूति किसानों के प्रति है तो उसकी दृष्टि एक अलग प्रकार की होगी, तो साहित्य से संबद्ध भविष्य को कोई निश्चित रूपरेखा नहीं बन सकती है। यह जरूर है कि जिस प्रकार से किसान का जीवन है, उसकी पहचान उसी रूप में समग्रता के साथ की जानी चाहिए, यही प्रस्तुत शोध–पत्र की मुख्य आधारशिला है।

मुख्य बिंदु

साहित्य, किसान, आंदोलन, कृषिजन्य समस्यायें, जमीन, शोषण।

भूमिका

रेनेवेलेक ने लिखा है कि अतीत की सार्थकता (पास्ट सिग्निफिकेन्स) और वर्तमान की अर्थवता (प्रेजेन्ट मीनिंग) एक कालजयी कृति के अभिन्न आयाम हैं। एक कालजयी रचना जितनी 'कालबद्ध' होती है, उतनी ही 'कालातीत' भी।[1] एक प्रगतिशील रचनाकार जिस जनपक्षधरता और जागरूकता के साथ अपने समय के विविध संदर्भों को उठाता है, उसी सजगता तथा द्वन्द्वात्मकता के साथ अतीत को, इतिहास को, परम्परा को सहेजने की कोशिश भी करता है। यही कारण है कि, साहित्य हमेशा से समाज में घटित होने वाली समस्याओं अथवा जीवन की उलझनों के प्रतिबिंब को शब्दों में ढालकर उन्हें कविता, कहानी अथवा उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम होता है।

भारतीय साहित्य में अनेक कालजयी रचनाओं तथा नायकत्व का अभ्युदय कविता, कहानी अथवा उपन्यास के पटल पर हुआ है। इसका कारण यह है कि साहित्यकारों की कल्पनाशीलता में ताकतवर जीवनानुभव बिम्ब रचना, प्रतीक विधान, सौंदर्यबोध, शब्द विन्यास, इतिहास, वर्तमान–सबकी पुनर्व्याख्या और पुनर्रचना के साथ ही लेखक अपनी अस्मिता की भी तलाश कर रहा होता है, और अपने आस–पास के वातावरण से जुड़कर अपनी कल्पनाशीलता को ऊँची उड़ान देता है।

शोध–पत्र का उद्देश्य

साहित्य की कल्पनाशीलता में कृषिजन्य समस्याओं का चित्रण' दो मुख्य विमर्श पर आधारित है :

1. साहित्य में कृषिजन्य समस्याओं का चित्रण उसके (साहित्य के) हर विधा में किया गया है। चाहे वह कविता हो अथवा नाटक, कहानी या फिर उपन्यास। अतः यह जानना अति आवश्यक है कि सदियों से रची जा रही रचनाओं और वर्तमान गल्पों तक में 'किसान और खेती' क्यों शामिल होती रही है ?
2. साहित्य में प्रतिबिंबित कृषिजन्य समस्याएँ सिर्फ कल्पनाशीलता की पराकाष्ठा को छुती है, अथवा ये हकीक का आधार भी है ?

विश्लेषण

शोध–पत्र में सम्मिलित प्रथम विमर्श पर शोध–अध्ययन से स्पष्ट होता है कि साहित्य के सभी विधाओं में चाहे वह कविता हो अथवा कहानी, नाटक, उपन्यास, पहेली, मुहावरा सभी रूपों में किसान और खेती शामिल होती रही है।

इसका कारण यह है कि भारत के इतिहास के प्राचीनकाल में कृषि और किसानी की शुरूआत सिन्धु घाटी सभ्यता से हुई और कृषि पेशा उनके लिए 'कल्चरल प्राइड' की बात थी। इतिहास के मध्यकालीन समय में 1828 ई. की रैयतवाड़ी व्यवस्था, जिससे किसानों को तय लगान देने और न देने की स्थिति में खेत छोड़ देने को बाध्य किया था, किसानों के उत्पीड़न की शुरूआत थी।[2] तात्कालिक बंगाल का 1859 ई. का टैनेन्सी ऐक्ट जिसका उद्देश्य 12 वर्ष से लगातार खेती करने वाले किसानों को लगान वृद्धि से बचाना था, भी जमींदारों के पक्ष में था।[3]

आजादी के बाद से भारतीय समाज लगातार आर्थिक प्रगति की दिशा में अग्रसर है। लेकिन क्या यह प्रयास एकांगी नहीं है ? हमने आर्थिक विकास के लक्ष्य को तो निर्धारित किया, लेकिन क्या उसी के समानांतर सामाजिक विकास का लक्ष्य भी रखा ? शायद नहीं, कुछ विशिष्ट संवैधानिक प्रावधानों के अलावा इस दिशा में बेहतर जमीनी प्रयास नहीं दिखाई देता है। सबसे बड़ी विडंबना की बात तो यह है कि स्वाधीनता आंदोलन के समय जो सामाजिक आंदोलन चल रहे थे, वे या तो अचानक ठप हो गये, या किसी खास राजनीतिक पार्टी को भेंट हो गये। जाति, जमीन, स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर और अन्य वंचितों के सवाल बुनियादी स्तर पर हल नहीं हुए। वर्ष 1967 में बंगाल के नक्सलबाड़ी गांव से शुरू हुआ नक्सल आंदोलन इसी का परिणाम है।

आदिवासी किसानों और अन्य किसानों के आंदोलनों–विद्रोहों के बीच सबसे बड़ी समानता यह है कि दोनों के ही शोषक समानधर्मा लोग हैं, जिनके खिलाफ इन्होंने आंदोलन किया। आजादी के पहले जहाँ ये जमींदार, महाजन और अंग्रेज शासक के रूप में थे वहीं आजादी के बाद इसमें केवल एक बदलाव हुआ और अंग्रेजों के स्थान पर भारतीय चेहरे आ गये। जमींदारी उन्मूलन के बावजूद शोषण के सामंती मूल्य विद्यमान हैं, जो हाशिये के समुदायों का शोषण जारी रखने में अहम भूमिका निभा रहे हैं।

खेतिहर–संघर्षों का इतिहास बतलाता है कि सशस्त्र प्रतिरोध अंतर्विरोधों के समाधान का अंतिम विकल्प रहा है। जब सभी मान्य विकल्प समाधान के संदर्भ में अपने हथियार डाल देते हैं तब उत्पीड़ित वास्तविक हथियार को हाथ में उठाता है, और यह हथियार कोई और नहीं बल्कि उसकी कलम और उससे की गई कलमकारी है।

माटी और खेती के प्रति अदम्य आकर्षण ओड़िआ उपन्यास की केन्द्रीय चेतना के रूप में आरंभ से ही रहा है। माटी और किसान के सरोकारों को लेकर आरंभिक ओड़िआ उपन्यास छ माण आठ गुंठ को हम प्रस्थान बिंदु मान सकते हैं। इसी क्रम में कालिंदीचरण पाणिग्रही के माटीर मणिष, कान्हूचरण महांती के शास्ती, गोपीनाथ महांती के परजा और अमृत संतान, नित्यानंद महापात्र के हीड़माटी, विजय नायक के ग्रास, पद्मज पाल के दुर्गपतनरबेल की चर्चा की जा सकती है।[4] हिन्दी साहित्य में बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'आनंदमठ' से लेकर रेणु और प्रेमचंद की लेखनी तक ने इसी कारण से किसान और कृषि जन्य समस्याओं को जिंदा रखने की कवायद शुरू की। अपनी आंचलिकता के कारण जहाँ एक तरफ 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' और गोदान जैसे उपन्यासों में दर्ज ग्रामीण जीवन और कृषक संस्कृति की मौलिकता को बहुत ही सटीकता से प्रदर्शित किया है। वहीं वीरेन्द जैन की उपन्यास 'डूब' में विकास के उस मॉडल की व्याख्या की गई है जिसमें गाँव के लोगों को बड़ी सामाजिक कीमत चुकानी पड़ी। जहाँ ग्रामीण खेतिहर समुदाय अपने परंपरागत पेशे और क्षेत्र से विस्थापित हुए वहीं किसानों के परंपरागत कौशल और संस्कृति का पतन हो गया। उपन्यास के अन्त में एक सौ पाँच साल के 'माते' (पात्र) के द्वारा जारी आक्रोश से यह सिद्ध होता है कि–''आजादी के बाद सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल से नवसाम्राज्यवादी आर्थिक नीतियाँ बाढ़ में ग्रामीण खेतिहर और मजदूरों की 'अस्मिता की डूब' का गुनहगार है।''[5]

उपन्यास के बदलते यथार्थ की दृष्टि से आठवाँ दशक महत्वपूर्ण रहा है। यह वही समय है जब साहित्य में कथन की बहुस्तरीयता पर आधारित विविधरंगी शिल्प–कथाधारा नयी संभावनाओं के साथ आगे बढ़ रही थी। यथार्थवाद की धारा अपने भीतर के अँधेरे को टटोलती हुई सार्थक आत्म–साक्षात्कार का प्रयास कर रही थी। इसी समय शिवमूर्ति की एक रचना 'आखिरी छलांग' जनवरी 2008 में प्रकाशित हुई। 'आखिरी छलांग' का वर्ण्य भारतीय कृषक जीवन की समस्याएँ हैं। आखिरी छलांग कृषक जीवन पर आधारित उपन्यास है। इसका मुख्य पात्र पहलवान आधुनिक भारत के किसान का प्रतीक है। उपन्यास की शुरूआत में ही शिवमूर्ति पहलवान की चिंता का खुलासा करते हुए लिखते हैं, –''पत्नी को पता है कि पिछले कुछ बरस से इनके मन का बोझ धीरे–धीरे बढ़ रहा है। सयानी बेटी के लिए दो साल से वर खोज रहे हैं, लेकिन कहीं कामयाबी नहीं मिली। तीन साल हो गये गन्ने का बकाया अभी तक नहीं मिला। सोसायटी से ली गई खाद का कर्ज न चुक पाने के चलते पिछले साल पकड़ लिए गये थे। हर दूसरे महीने ट्यूबवेल के बिल की तलवार सर पर लटक जाती है। बेटी का विवाह कहीं तय भी हो जाये तो उसके खर्च का इंतजाम कैसे होगा ? ''जिस परिवार में बाहर से नगदी की आमदनी नहीं है, उसका आज के जमाने में गुजर होना मुश्किल है। जैसे गढ्ढे से खोदी गयी मिट्टी उसी गड्ढे को भरने के लिए पूरी नहीं पड़ती, वैसे ही खेती–किसानी की आमदनी खेती–किसानी के खर्चे भर को भी नहीं अटती। और कहाँ से अटे! डीजल, बिजली, खाद, कीटनाशक, जोताई–मड़ाई की मजूरी–सबका रेट तो हर साल दस पाँच रूपये बढ़ जाता है। नहीं बढ़ता है तो किसान की पैदावार का दाम। इसलिए जितनी लम्बी खेती उतना लम्बा घाटा।''[6]

उपन्यास के इन शब्दों से स्पष्ट होता है कि बिना किसी कृत्रिमता और आरोपण के साहित्य में किसानों की स्थिति को सहजता और सच्चाई के साथ दिखाया जाता रहा है। अतः जल, जंगल और जमीन से जुड़े किसानों की समस्याओं को साहित्य के माध्यम से राष्ट्र के समक्ष रखने की नितान्त आवश्यकता है, ताकि हाशिये के इस समुदाय की समस्याओं पर विधिवत विमर्श और समाधान किया जा सके।

शोध–पत्र का द्वितीय विमर्श यह है कि साहित्य में प्रतिबिंबित कृषिजन्य समस्याएँ सिर्फ कल्पनाशीलता की पराकाष्ठा को छुती है, अथवा ये हकीकत का आधार भी है ?

इस विमर्श बिन्दु को समझने से पूर्व रामविलास शर्मा की एक कविता है, किसान कवि और उसका पुत्र जो तारसप्तक में छपी थी, का अध्ययन आवश्यक है :

बरस रहा है जब वन में खेतों में जीवन,
किस ने किया इन्हीं खेतों में प्राण–विसर्जन ?
किस की मिट्टी पर यह खेतों की हरियाली ?
किस के लाल लहू की फागुन में यह लाली ?[7]

कविता में प्रश्नवाचकता है। विडंबनाओं से उपजी प्रश्नवाचकता। कविता का मर्म यह है कि आखिर आज किसान है कहाँ ? जनगणना के आंकड़ों का यदि अध्ययन किया जाय तो 2001 से 2011 के दशक के बीच देशभर में तकरीबन 77 लाख किसान गायब हो गये। यदि सीधे संख्याओं का अध्ययन किया जाये तो 2001 में कृषि को मुख्य पेशा बतानेवाले 10 करोड़ तीन लाख किसानों के मुकाबले वर्ष 2011 में देश में महज 9 करोड़ 58 लाख किसान बचे थे। फिर बिना किसी सूखे या अन्य किसी प्राकृतिक आपदा के होनेवाली यह गिरावट हरित क्रांति के बाद पहली बार हुई थी। मतलब साफ है कि बीते दशक में भारत में खेती का संकट गहराता ही गया है। अर्थात् देश की विकास दर के 12 तक पहुँच जाने पर भी भारतीय कृषि 1994–95 से 2004–05 के बीच 0.4 फीसदी के खतरनाक स्तर से सुधरकर 11 वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान 3.6 फीसदी के औसत तक ही पहुँच पायी थी। नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के उस दौर में खाद्यान्न का उत्पादन 0.5 फीसदी की दर तक पहुँच गया था। यह संकट कृषि के किसी एक क्षेत्र में नहीं, बल्कि चौतरफा था और 1991 से 2010 के बीच कपास को छोड़ कर सभी महत्वपूर्ण फसलों के उत्पादन की वृद्धि दर में तीखी गिरावट देखी गयी थी।[8]

रामविलास शर्मा के कविता की तरह ही कवि उदय प्रकाश की नूतन अभिव्यंजना की कविता 'दो हाथियों का लड़ना' का भी अध्ययन आवश्यक है–

दो हाथियों के समुदाय से/संबंध नहीं रखता दो हाथियों की लड़ाई में
सबसे ज्यादा कुचली जाती है/घास, जिसका/हाथियों के समूचे कुनबे से/
कुछ भी लेना–देना नहीं/जंगल से भूखी लौट जाती है गाय/और भूखा सो
जाता है/घर में बच्चा/चार दांतों और आठ पैरों द्वारा/सबसे ज्यादा घायल
होती है/बच्चे की नींद, सबसे अधिक असुरक्षित होता है/हमारा भविष्य
दो हाथियों की लड़ाई में /सबसे ज्यादा टूटते हैं पेंड़/सबसे ज्यादा मरती है
चिड़ियां/जिनका हाथियों के पूरे कबीले से कुछ भी लेना देना नहीं/
दो हाथियों की लड़ाई को/हाथियों से ज्यादा/सहता है जंगल/और इस

लड़ाई में/जितने घाव बनते हैं/हाथियों के उन्मत शरीरों पर/उससे कहीं
ज्यादा/गहरे घाव/बनते हैं जंगल और समय की छाती पर ।''[9].....

किसानों की प्रकृति और उनकी समस्या का सूक्ष्मता और संवेदनशीलता के साथ विश्लेषण अनिवार्य है– 'जैसे भी हो, दो हाथियों को लड़ने से रोकना चाहिए। अब कविता के असली सवाल है कि भूमि का असली स्वामी कौन है ? उसका मालिक या सरकार ? पहले सार्वभौम संप्रभुता के सिद्धांत के तहत भूमि अधिग्रहण के मामले में सरकार का निर्णय अंतिम होता था। भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894 में प्रावधान था कि 'सार्वजनिक उद्देश्यों' के लिए सरकार किसी भी जमीन का अधिग्रहण नहीं कर सकती है। इसमें 'सार्वजनिक उद्देश्यों' को कहीं परिभाषित नहीं किया गया। यह अधिकारियों के विवेक पर छोड़ दिया गया। इस कारण चाहे जिस काम के लिए भी जमीन का अधिग्रहण राज्य द्वारा किया गया, उसे सार्वजनिक उद्देश्यों के तहत किया गया अधिग्रहण मान लिया गया।

पहली बार भूमि अधिग्रहण कानून 2013 में इस प्रकार के अधिग्रहण पर रोक लगायी गयी, जिसमें भूस्वामियों की सहमति और सामाजिक प्रभाव आकलन को अनिवार्य बनाया गया। सहमति के लिए 70 प्रतिशत की सहमति होने की शर्त है।[10] इसकी चौथी अनुसूची में उन क्षेत्रों को रखा गया है, जिनके लिए सहमति एवं सामाजिक प्रभाव आकलन की शर्तों से छूट दी गयी है। इनमें रेलवे, राष्ट्रीय राजमार्ग, परमाणु ऊर्जा तथा बिजली आदि से जुड़ी परियोजनाएं शामिल हैं। इसके अलावे औद्योगिक कॉरिडोर, रक्षा एवं उत्पादन तथा ग्रामीण बुनियादी ढांचा, जिसके तहत विद्युतीकरण, निर्धन वर्ग के लिए आवासों का निर्माण तथा आधारभूत परियोजनाएं आती हैं।[11]

किसान संगठनों ने इसके विरूद्ध आंदोलन की धमकी दी, आंदोलन किये भी। वैसे किसान संगठन 2013 के अधिनियम से भी संतुष्ट नहीं थे। मुआवजे का जो प्रावधान 2013 के कानून में है, इसमें सर्किल दर का दोगुना जमीन की कीमत के रूप में तथा दोगुना पारितोषिक के रूप में देने का प्रावधान है। 2013 के कानून के बाद पहली बार भू–स्वामियों को उसकी भूमि पर पूरा अधिकार दिया गया।[12] परंतु उद्योग जगत का मानना था कि इससे भूमि का अधिग्रहण लगभग असंभव हो जायेगा। दरअसल, एक मध्यमार्ग की जरूरत थी, ताकि औद्योगिकरण व विकास की गति भी मंद न हो और किसानों को भी नुकसान न हो। पिछले वर्षों में भूमि अधिग्रहण में इतनी मनमानी की गयी कि किसानों के बीच जबरदस्त आक्रोश उभरा। विकास के लिए जमीन का अधिग्रहण जरूरी है। किंतु अधिगृहित जमीन का इस्तेमाल वाणिज्यिक गतिविधियों के लिए नहीं होना चाहिए। आलोचना का आधार यह हो सकता है कि अध्यादेश के जरिये इतना महत्वपूर्ण संशोधन किया जाना चाहिए या नहीं। सरकार और बाजार के बीच पिसता किसान आज अत्यधिक आक्रोशित है, और उसके आक्रोश को कवि विद्रोही द्वारा लिखित नई जनवादी कविता के मुखर स्वरों से समझा जा सकता है जिसका शीर्षक – नई खेती है।

मैं किसान हूँ/आसमान में धान बो रहा हूँ/कुछ लोग कह रहे हैं
कि पगले ! आसमान में/धान नहीं जमा करता/मैं कहता हूँ पगले !
अगर जमीन पर/भगवान जम सकता है/आसमान में
धान भी जम सकता है/और अब तो दोनों में से/कोई एक होकर रहेगा
या तो जमीन से भगवान उखड़ेगा/या आसमान में/धान जमेगा।''[13].....

पुराने समय में खेती भगवान भरोसे मानी जाती थी। यानी किसान पूरी मेहनत करने के बाद भी निश्चित नहीं हो सकता था कि फसल अच्छी ही होगी। बारिश, रोग और पाला जैसी चीजें प्राकृतिक आपदा मान ली जाती थी। आजादी के साठ साल बाद भी हालात बदले नहीं है। हाँ, खेती भगवान भरोसे होने के साथ–साथ कारपोरेट भरोसे भी हो गयी है। खाद, बिजली पानी और बीज सबकुछ कारपोरेट घरानों के रहमोकरम पर निर्भर है। मॉडिफाइड जींसवाले बीजों के जरिये किसानों से अपनी जरूरत की फसलें उगाने की स्वतंत्रता भी छीन ली गयी है। पिछले दो दशकों से खेती पर संकट बढ़ता गया है, इसकी गवाही लाखों किसानों की आत्महत्या ही नहीं खाद्यान्न और सब्जियों की बढ़ती कीमतें भी दे रही है। चीनी की कीमतों के आसमान छूने के साथ ही महंगाई पर हंगामा शुरू हुआ था, जिसे बड़े–बड़े घोटालों के घटाटोप में दबा दिया गया। कीमतें बढ़ने की चेतावनी व्यवस्था के अभाव के चलते ही अफरा–तफरी मची हुई है। भारत में पहली बार सुनामी जैसी प्राकृतिक आपदा आने के बाद महसूस किया गया था कि 'चेतावनी व्यवस्था' ठीक होने से हजारों लोगों का जीवन बचाया जा सकता था। पर खाद्यान्न और सब्जियों के दामों के बारे में चेतावनी व्यवस्था के अभाव का अलग अर्थशास्त्र है।

तभी तो कवि रतन तिवारी इस हिन्दुस्तान के आराम तलब लोगों से प्रश्न करते हैं कि –

'' पेट भरता रहा जो पेट काट–काट नित्य,
खाली पेट बासी अखबार कैसे हो गया ?
कर्ज में खुली थी आँख, कर्ज में ही बन्द हुई
हाय ये किसान, कर्जदार कैसे हो गया ?''[14]

आज भी हमारे देश में 65 फीसदी ऐसे किसान हैं, जो बंधुआ मजदूर के रूप में काम करके जीवनयापन कर रहे हैं, फिर भी शाम तक उनको भरपेट भोजन नसीब नहीं होता, कारण महंगाई और बेरोजगारी का बढ़ना है।

इस तरह की अनेक कविताओं, कहानियों जैसे साहित्यिक विधाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि साहित्य ही पाठकों के समक्ष इस मुद्दे को साफगोई से उठाने में सक्षम है कि किसान कठिन से कठिन परिश्रम करके अन्न को उपजाता है, लेकिन उसे अपने फसल की कीमत तय करने का हक नहीं है। अतः साहित्य में प्रतिबिंबित कृषिजन्य समस्याएँ सिर्फ कल्पनाशीलता की पराकाष्ठा को छुती नहीं है, बल्कि ये हकीकत का आधार भी है।

इतिहास ने कृषक संघर्शों के संदर्भ में पूरी ईमानदारी नहीं बरती है अथवा तथ्यों को तोड़–मरोड़कर पेश किया है। इतिहास प्रायः राज्य–व्यवस्था के नजरिये से किसान आंदोलनों को देखता रहा है। जबकि साहित्य इसके विपरीत जन–सवालों को संवेदना के साथ देखता है, क्योंकि साहित्य का विवेक ही समझ सकता है कि पेशेवर साहित्यकार किसी समय विशेष का इतिहास लिखता मात्र है परन्तु उस समय विशेष का 'जन' इतिहास बनाता है। उस समय विशेष का समाज इतिहास को जीता है।

निष्कर्ष

अर्थात् साहित्य में उपस्थित होनेवाला इतिहास क्षेत्र विशेष के जन की स्मृतियों में भी पीढ़ी–दर–पीढ़ी सुरक्षित–संरक्षित होता है। यह इतिहास उसी मिट्टी के जन–जीवन से जुड़ी आस्थाओं, विश्वासों, लोककथाओं, दंतकथाओं, किवंदतियों, लोकगीतों एवं ग्राम्य सरोकारों के रसायन से जन के हृदय एवं मस्तिष्क में लिखा होता है।

महाश्वेता देवी के शब्दों में–''यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि एक कथाकार को इतिहास की संवेदना से अवश्य अनुप्रेरित होना चाहिए, मेरा अनुभव है कि प्रामाणिक डॉक्यूमेंटेशन ही अन्याय के खिलाफ कारगर हथियार है।' अतः 'साहित्य की कल्पनाशीलता में कृषिजन्य समस्याओं का चित्रण' मानव सभ्यता के अंत तक होता रहेगा। जो लिखने वाला होगा, वो अपने ढंग से लिखेगा। साहित्य –लेखन के लिए कोई एक बनायी गयी रूपरेखा नहीं होती हैं। प्रत्येक लेखक अपने अनुभवों के आधार पर लिखता है, अपने संस्कारों से लिखता है, अपनी अन्तरदृष्टि के आधार पर लिखता है।

सुझाव

साहित्य में दो चीजें होती हैं, एक विषय और दूसरा वस्तु। किसान एक विषय है और जब लेखक इस पर लिखेगा तो वस्तु बनेगी। किसान की पहचान और उसकी प्रस्तुति में किसी रचनाकार का अपना नजरिया प्रस्तुत होगा। यदि रचनाकार एलीट होगा तो किसान को बड़ी हिकारत की दृष्टि से देखेगा। यदि रचनाकार स्वयं किसान घर से आया है तो वह किसान को प्रेमपूर्वक देखेगा। अगर रचनाकार की सहानुभूति किसानों के प्रति है तो उसकी दृष्टि एक अलग प्रकार की होगी। तो साहित्य से संबद्ध भविष्य को कोई निश्चित रूपरेखा नहीं बन सकती है। यह जरूर है कि जिस प्रकार से किसान का जीवन है, उसकी पहचान उसी रूप में समग्रता के साथ की जानी चाहिए।

संदर्भ

1. रैल्फ फॉक्स : उपन्यास और लोक जीवन, पी. पी. हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली
2. वन्दना शिवा–''किसानों के खिलाफ सरकारी युद्ध'', समयान्तर अंक–4
3. वही
4. नरेश प्रधान–''ओड़िया साहित्य और आंचलिकता'', कटक ओड़िसा।
5. रामनरेश त्रिपाठी–''ग्राम साहित्य'' आत्माराम एंड सन्स प्र. नई दिल्ली
6. महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा–''भारतीय कृषक जीवन का आधुनिक आख्यान'' संदर्भ आखिरी छलांग, इस्पातिका पत्रिका से साभार।
7. जयनंदन–''किसान और उसकी धरोहर : एक मुक्त रचनावली'', राधाकृष्ण प्रकाशन, बिहार
8. वीर भारत तलवार – ''किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द : 1918–1922,'' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
9. जयनंदन–''किसान और उसकी धरोहर : एक मुक्त रचनावली'', राधाकृष्ण प्रकाशन, बिहार
10. अरविंद अंजुम –''माछ, गाछ और चास से होगा विकास'', इस्पातिका किसान विशेषांक।
11. रवींद्र कालिया–'' नया ज्ञानोदय'', जनवरी–2008
12. वही
13. अर्चना भारद्वाज– ''एक कवि की कलम से'', युवा प्रकाशन, लखनऊ
14. वही